



CHETANA
International Journal of Education

Impact Factor
SJIF-5.689

Peer Reviewed/
Refereed Journal

ISSN-Print-2231-3613
Online-2455-8729



Prof. A.P. Sharma
Founder Editor, CIJE
(25.12.1932 - 09.01.2019)

Received on 10th May 2021, Revised on 18th May 2021, Accepted 28th May 2021

शोधपत्र

आत्मा का स्वरूप एक दार्शनिक चिन्तन

* प्रो. राकेश कवचे

सहायक प्राध्यापक—दर्शनशास्त्र

शासकीय ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय, रीवा

Email- rakeshkavche81@gmail.com, Mob.- 9993474382

मुख्य शब्द - आत्मा, नियामक, प्रकृति, वायु, सत्त्व, तिरिष्कार और अजर-अमर आदि।

सार संक्षेप

आत्मा का स्वरूप वस्तुतः आदिकाल से दार्शनिक मीमांसा का केन्द्रीय तत्त्व रहा है। जो विश्व के सम्पूर्ण दार्शनिकों के चिन्तन का कहीं न कहीं परोक्ष और अपरोक्ष रूप से सम्बन्ध है। जिस प्रकार से कहा जाता है कि "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" आदि से स्पष्ट होता है कि शरीरस्थ चेतना के तत्त्वों का असीम ब्रह्माण्डमयी सत्तामें विशिष्ट स्थान है। जो आत्मा की उत्पत्ति अर्थात् आत्मा शब्द अत् गमने और अत् व्यासौ धातु से उत्पन्न होता है। इसे निरुक्तकार यास्कमुनि 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करते हैं। जो सतत् गमनआत्मा है। यह आत्मा सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। वह 'आत्मा' है जो आप्त सा प्रतीत होती है। शंकराचार्य लिङ्गपुराण में आत्मा शब्द का चार प्रकार से वर्णन किया है। जो सभी को प्राप्त है और सभी को ग्रहण करता है। इस प्रकार से इस लोक में वह भोग करता है।

प्रस्तावना

'आत्मा' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग उपनिषद् वांग्मय में मिलता है। कठोपनिषद् में यम ने आत्मा के सन्दर्भ में कहा कि वह आत्मा न उत्पन्न होती है और न ही मरती है। वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और अनन्त है।¹ इस प्रकार से शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा स्वयं नष्ट नहीं होती है। मन और बुद्धि से परे है।

शोध प्रविधि

इस शोध पत्र में द्वितीयक सामाग्री के स्रोतों के आधार पर अध्ययन किया है। इसमें विधि के रूप में ज्ञानमीमांसा और मूल्यमीमांसा की विधियों के आधार पर विवेचित किया गया है।

उद्देश्य

जिसमें शाश्वत भावना भी विद्यमान है और आत्मा के सन्दर्भ में आधुनिक विद्वानों का मत है कि इसकी उत्पत्ति भिन्न-भिन्न धातुओं से होती है। जर्मन दार्शनिक अल्बर्ट स्वित्जर, ने इसको जर्मन शब्द 'अत्मेन' के सदृश मानते हैं।

अविकारोऽपि परम प्रकृति तु विकारिणीम् ।

अनुप्रविश्य गोविन्द प्रकृतिश्चाभिधीयते ।।

इति नारदीये । न चान्यत् कल्प्यम्, अप्रामाणिकत्वात् ।²

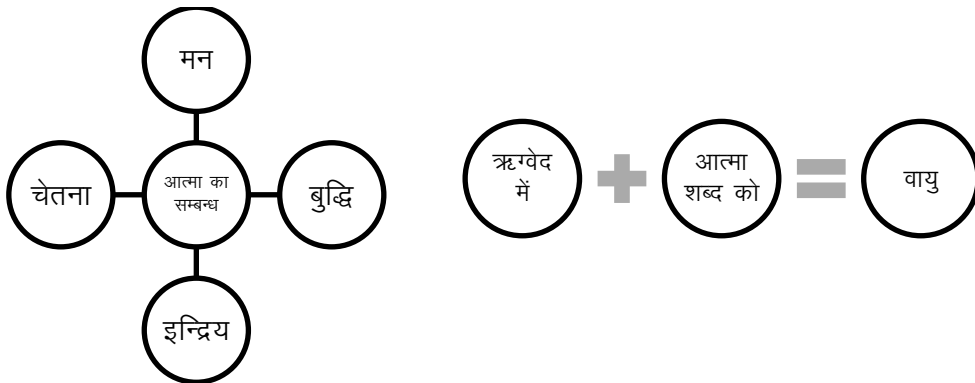
मूल रूप से वह प्रकृति प्रकर्ष रूप में प्रकट करती हैं इससे यह सिद्ध होता है कि प्रकृति के अनुप्रविष्ट होने के परिणामित होता है। यह परिणाम भी नियामक रूप से स्थित होकर विशिष्टता को उल्लेखित करता है। इस प्रकार से आत्मा प्रकृति में अनुप्रविष्ट होने के उपरान्त ही अनेक रूपवाला होता है। इसीलिये इसे प्रकृति के रूप में वर्णन किया गया है। इस प्रकार से भाल्लवेय श्रुति में भी कहा गया है कि आत्मा की विकृति और प्रकृति में अनुप्रविष्ट होता चला जाता है। इसीलिए इस सृष्टि को प्रकृति कहा जाता है।

कीथ महादेय का मानना है कि ग्रासमेन प्रभृति पूर्वविद्वानों की व्युत्पत्ति अधिक उपयुक्त मानी गई है। ऋग्वेद में आत्मा शब्द को 'वायु' माना गया है। 'वायु' से 'चास' निकला और चास से ही सत्त्वआदि अर्थ का ग्रहण होने लगा। आत्मा शब्द का प्रचलित तात्पर्य 'जीवात्मा' या 'प्रत्यगात्मा' से लिया गया है। उसी प्रकार से शंकराचार्य के अनुसार जो प्रत्येक स्वरूप में अन्तरवर्ती हो उसे 'प्रत्यगात्मा' भी कहा गया है। यह मूल रूप से उसके व्यक्तित्व, उसके गुण, प्राण उसकी प्रज्ञा आदि सभी को व्याप्त कर लेता है। यहाँ तक आत्मा का सम्बन्ध मन, बुद्धि, इन्द्रिय और चेतना से भी है। आत्मा पूर्णतः सभी जगहों में विद्यमान है।

यह संसार अज्ञानजन्य मिथकीय कल्पना लगता है। यहाँ तो कर्ता-भोक्ता आदि से जीव के भाव की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से वह राग-द्वेष में पड़कर शुभाशुभ कर्म करने की ओर प्रवृत्त होने लगता है। तब उसे सुख और दुःख का अनुभव होता है। वह स्वयं के कर्मों से अपने जन्म से लेकर जन्मान्तर तक की यशकीर्ति प्राप्त करना चाहता है। यही मूलतः जीव पूर्णरूप से संसार का बन्धन बन जाता है। अज्ञान का पलड़ा भारी होने पर सभी दशा उसको यथार्थ प्रतीत होने लगती है। अर्थात् वह स्वयं के कृत्य को सत्य समझने लगता है। जबकि ऐसा नहीं है अयथार्थ हमेशा से असत्य रहा है और यथार्थ हमेशा सत्य रहा है। जीवन में ये ही एक सिक्के के दो पहलू हैं। समाज का एक भी ऐसा वर्ग नहीं है जहाँ सत्य और असत्य न हो। ऐसी विचारधारा के परिणाम स्वरूप मानव में एकत्व की भावना का जाग्रत होना। उसके सद्कर्मों पर निर्भर करता है।

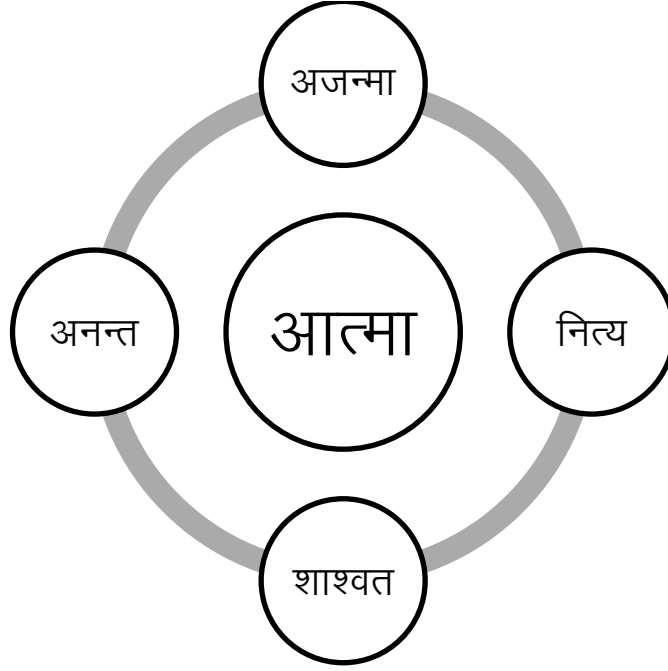
समस्या

यह संसार अज्ञानजन्य मिथकीय कल्पना लगता है। यहाँ तो कर्ता-भोक्ता आदि से जीव के भाव की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से वह राग-द्वेष में पड़कर शुभाशुभ कर्म करने की ओर प्रवृत्त होने लगता है। तब उसे सुख और दुःख का अनुभव होता है। वह स्वयं के कर्मों से अपने जन्म से लेकर जन्मान्तर तक की यशकीर्ति प्राप्त करना चाहता है। यही मूलतः जीव पूर्णरूप से संसार का बन्धन बन जाता है। अज्ञान का पलड़ा भारी होने पर सभी दशा उसको यथार्थ प्रतीत होने लगती है। अर्थात् वह स्वयं के कृत्य को सत्य समझने लगता है। जबकि ऐसा नहीं है अयथार्थ हमेशा से असत्य रहा है और यथार्थ हमेशा सत्य रहा है। जीवन में ये ही एक सिक्के के दो पहलू हैं। समाज का एक भी ऐसा वर्ग नहीं है जहाँ सत्य और असत्य न हो। ऐसी विचारधारा के परिणाम स्वरूप मानव में एकत्व की भावना का जाग्रत होना। उसके सद्कर्मों पर निर्भर करता है।



समाधान

आत्मा वह है जो सभी कुछ नष्ट होने के उपरान्त भी नष्ट नहीं होती है। अर्थात् वह अदृष्ट है जो दिखाई नहीं देती है। इस प्रकार कुछ नष्ट होने के बाद भी अनष्ट हो जाती है। उपनिषद् में भी आत्मा और ब्रह्म का प्रमाण मिलता है। इस प्रकार से आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता पर जोर दिया है।



असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

ता स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।³

वह असुरलोक आत्मा को जानने की अनभिज्ञता से आच्छादित हैं। जो कोई भी व्यक्ति आत्मा का हनन करने वाला है। वह मरने के अनन्तर ही उन्हें प्राप्त होता है। इस प्रकार से अद्वय परमात्मा की भाव भक्ति की अपेक्षा से देवता आदि भी असुर ही हैं और उनके सम्पत्ति स्वरूपों में होने वाला लोक भी असुर्य के नाम से जाना जाता है। यह नाम मूलतः शब्द और अर्थहीन निपात माना जाता है।

आत्मा का जो व्यक्ति घात करते हैं। वे आत्मघाती होते हैं। उसी प्रकार से अज्ञानी लोग हमेशा हिंसा करते हैं। वहीं अविद्यारूपी दुर्गुणों के कारण अपने नित्यसिद्ध आत्माका तिरस्कार करते हैं। वे अज्ञानी जीवों को नित्य सिद्ध आत्मा में नित्यता के गुणों को देखता है। जो अजर-अमर तत्वों से विद्यमान ज्ञान रूपी कार्यो से फल प्राप्त करता है। इसीलिए अज्ञानीजन अपने गुणों से आत्मघाती कहें जाते हैं। वे आत्माघाती होने के कारण अनेक प्रकार के दोषों से जन्म-मरण के बन्धन को प्राप्त होते रहते हैं।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।

तद्भावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्स्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।⁴

इस प्रकार से आत्मा रूपी गुणों के स्वरूप से विचलित नहीं होने वाला, वह मन, इन्द्रियों से भी तीव्र गति वाला होता है। इसे इन्द्रियों से भीप्राप्त नहीं किया जा सकता है। यह उन सब के पहले भी विद्यमान है। उस प्रकार से स्थिर होने वाला अन्य सब के गतिशीलता पर अतिक्रमण करता है। उसके रहने के उपरान्त उसकी सत्ता भी विद्यमान है। जो वायु के समस्त गुणों और प्राणियों के कर्मों के विभाग पर उत्पन्न होता है।

मन अधिक वेगवान है। इस लोक में देहस्थ होने के उपरान्त भी मन ब्रह्मलोक में बहुत ही जल्दी पहुँचने पर वहाँ आत्मचिन्तन का आभास पहले ही होने लगता है। इसीलिए श्रुति में कहा जाता है कि मन बहुत ही वेगवान है। जब हम यह देखते हैं कि आज मैं यहाँ हूँ किन्तु मेरा मन हजारों कि.मी. का सफर क्षणभर में कर लेता है। वह सुन्दर वस्तुओं के प्रति आकर्षित हो जाता है। वह किसी भी देवता या मानव को क्षणभर में देख लेता है। ऐसा चंचल मन अनेक जगहों में इतना जल्दी पहुँचता है। उसकी हम कल्पना नहीं कर सकते हैं।

एतेषां प्रकाशात्मकत्वात् सात्त्विकांश कार्यत्वम् ।।⁵

इस प्रकार की प्रकाशात्मा होने के परिणामस्वरूप इन्हें सात्त्विक अंशों से उत्पत्ति होती है। यह सत्त्वगुणों से परिपूर्ण ज्ञान शक्ति का संचार करता है। आत्मा की चेतना के सात्त्विक गुणों के आधार पर ज्ञानशक्ति के मूल स्वरूप का प्रकाश उत्पन्न होता है। यह सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त और प्रकाशील माना गया है। इसकी सत्ता सत्त्वगुणों से युक्त है।

अनया आवृतस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्व

सुखित्व दुःखित्वादि संसार सम्भावनापि

भवति, यथा स्वाज्ञानेनावृतायां रज्ज्वां

सर्पत्व सम्भावना ।।⁶

इस सम्पूर्ण संसार में फैले आवरण की आवृत्त से आत्मा में मूल स्वरूप में कर्तृत्व भाव उत्पन्न हो रहा है। वह भोक्तृत्व भाव के कारण ही सुख-दुःख के स्वरूप को जानता है। भोक्तृत्वभाव को जानने की इस संसार में सम्भावना बन जाती है। जिस प्रकार से अज्ञान से आवृत्त होने वाली रस्सी से सर्प का अनुभव होना एक प्रकार का सम्भावना प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार से संसार अज्ञान के बंधन में फँसा हुआ है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु,

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।⁷

इस भौतिक शरीर को रथ एवं आत्मा को रथी अर्थात् सवार जनों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार से बुद्धि को सारथि और मन को एकाग्र करने की शक्ति अर्थात् रस्सी चाहिये। बुद्धि के विकास का पहला पायदान ही मानव जीवन की सफलता का विशेष गुण माना गया है। आत्मा मन को निर्देशित करती है। यह कार्य उचित है और वह कार्य अनुचित है। इस प्रकार से मानव जीवन का आधार मन, बुद्धि और क्रिया है। इन तीनों को व्यवस्थित रखने का कार्य आत्मा करता है।

निष्कर्ष

उपनिषदों में आत्मतत्त्व को चरम तत्त्व के रूप में माना गया है। आत्मा और ब्रह्म वस्तुतः अभिन्न हैं। जिस प्रकार से 'तत्त्वमसि', वह तू ही है 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ आदि महावाक्य आत्मा और ब्रह्म की एकता को प्रदर्शित करते हैं। शंकर ने भी आत्मा और ब्रह्म के अभेद पर विशेष जोर दिया है। आत्मा मूल चैतन्य है। वह ज्ञाता है, ज्ञेय नहीं। वह नित्य और सर्वव्यापी है। छान्दोग्य उपनिषद में विवेचित आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन पूर्णरूप से मिलता है। इस प्रकार से वह अपेक्षित है, जिसमें प्रजापति ने आत्मा की विशेषताओं का विवरण करते हुए कहा है "आत्मा जरा से मुक्त है और रोग, पाप, मृत्यु, शोक, भूख और प्यास से भी मुक्त है।

सन्दर्भ

1. रामजी उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, वि. सं. 2018, पृष्ठ 339
2. जगद्गुरु श्रीमन्मध्वाचार्य, श्रीमध्ववेदान्त (पूर्णप्रज्ञभाष्य), श्री निम्बार्कपीठ, 12 महाजनी टोला प्रयाग, सं. 2031, पृष्ठ 86
3. ईशावास्योपनिषद्, 1/3, पृष्ठ 30-31
4. ईशावास्योपनिषद्, 1/4, पृष्ठ 32
5. वेदान्तसार, श्लोक 71, पृष्ठ 41
6. वेदान्तसार, श्लोक 53, पृष्ठ 36-37
7. रामजी उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, वि. सं. 2018, पृष्ठ 339

*** Corresponding Author**

प्रो. राकेश कवचे

सहायक प्राध्यापक-दर्शनशास्त्र

शासकीय ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय, रीवा

Email- rakeshkavche81@gmail.com, Mob.- 9993474382